समानता

हर युग में कुछ ऐसे विचार होते हैं जो के उस युग के मुख्य सवालों को व्यक्त करते हैं। हर एक बहस, विरोध, जंग मानो के उन्हीं पर आधारित लगती है। समानता एक ऐसा ही मुद्दा है जो, जब से औद्योगिकरण का यह दौर 250 साल पूर्व शुरू हुआ, तब से एक बढ़ती तादाद में लोगों को प्ररित और उत्साहित करता आ रहा है। चाहे पुराने नवाबों और राजाओं की सत्ता का टूटना हो या आज़ादी से पहले भारतीयों का अंग्रेज़ों के प्रति रोष या फिर दलितों का गांव को छोड़ शहर की तरफ़ पलायन – हर दौर में समानता का मसला अहम रहा है।

समाजिक विज्ञान में यह माना जाता है कि समाजिक परिवेश ही विचारों के आकर्षण को बनाता और बिगाड़ता है। समानता को तो मानवता की शुरूआत से ही सराहा गया है मगर यह आधुनिक युग की परिस्थितियां ही हैं जिन्होंने उसे एक सर्वव्यापी रूप से महत्व प्रदान किया है। व्यक्तिगत रूप में अनगिनत लोगों ने सभी को एक समान देखने की कोशिश की थी मगर आज के दौर में जिस तरह का महत्व समानता को दिया जाता है, यह सिर्फ़ अनुकूल परिस्थितियों में ही मुमकिन था।

शिकार और बटोर करनेवाले समाज में समानता

आधुनिक मानव (*Homo sapiens*) के इतिहास में सब से ज्यादा समय उसने शिकार करके और फल, जड़ें, इत्यादि बटोरकर अपने जीवन का बसर किया है। आधुनिक मानव ने 50000 सालों से अधिक शिकार और बटोर की ज़िन्दगी जी है। आजकल की खेती या पशुपालन तो सिर्फ कुछ ही हज़ार साल पुराने हैं। इस पृथ्वी पर सबसे लंबे समय तक मानव समाज में बहुत समानता रही है। इसे समझने के लिये हम आजकल के शिकार बटोर करने वाले समाजों का उदाहरण ले सकते हैं जिनके बारे में यह माना जा सकता है कि वे अभी भी मूल रूप से उस 50000 साल पुराने मानव समाज की तरह रहते हैं।

पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया के गिबसन रेगिस्तान में एक ऐसा ही समूह रहता है जिसका नाम है नगात्जतजारा। 1960 के दशक में रिचर्ड गोल्ड नामक एक समाजिक वैज्ञानिक इनके साथ रहा था और उसने नगात्जतजारा का अध्ययन करके उन पर एक किताब लिखी। उस अध्ययन से हमें शिकार और बटोर करने वाले समाजों के जीवन के बारे में पता चलता है। हलांकि अब इस तरह के अधिकांश लोग, नगात्जतजारा भी, अब उस पुरानी जीवनशैली से हट गये हैं।

जहां नगात्जतजारा रहते थे वह बहुत ही गर्म और सूखा इलाका था। मीलों तक सिर्फ़ पत्थर और रेत और कुछ छोटी छोटी झाड़ियां। ऐसे में नगात्जतजारा का जीवन छोटे जानवरों के शिकार और फलों, जड़ों, इत्यादि को इकट्ठा करने पर निर्भर था। वे किसी एक जगह पर ज़्यादा समय नहीं रह पाते क्योंकि वहां के जानवर और खाने योग्य वनस्पती थोड़े दिनों में ख़तम हो जाते। तो उन्हें एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहना पड़ता था। वे छोटे समूहों में रहते थे जिन में ज़्यादा से ज्यादा 80 लोग होते थे। वे ऐसी कोई चीज़ नहीं रखते थे जिसे उठा कर ले जाना मुश्किल हो। बड़े और मुश्किल से बनने वाले साधनों की उनके जीवन में कोई जगह नहीं थी।

सुबह सूरज के निकलने से पहले ही लोग उठना शुरू हो जाते। बच्चों को पानी लेने के लिये भेजा जाता और फिर रात के बचे हुये खाने के साथ नाश्ता किया जाता। बातचीत करते हुये वयस्क यह तय करते कि आज कहां जाया जाये। कोई कहता वहीं कल वाली जगह पर चलते हैं तो कोई कहता कि नहीं किसी नई जगह चलेंगे। औरतें और बच्चे जड़ें और फल इकट्ठा करने निकल पड़ती थी। छोटे बच्चों को गोद में या कमर पर रखा हुआ होता था और सर पर बड़े लकड़ी के बरतन जिस में पानी भरा रहता। वापस आते समय इन्हीं बरतनों में खाने की चीज़ें भरी रहती थी।

हो सकता था कि पुरुष तय करते कि आज हम कंगारू पकड़ने की कोशिश करेंगे। वे जा कर पास के तालाब के किनारे कुछ झाड़ियों के पीछे छुपकर बैठ जाते। तालाब पर सभी जानवर पानी पीने आते थे और नगात्जतजारा इसीलिये तालाब के बिल्कुल किनारे में अपना डेरा नहीं डालते थे कि कहीं जानवर उनकी मौजूदगी के कारण वहां आना ही बंद न करदें। फिर भी कंगारू जैसे बड़े जानवर को मारना आसान काम नहीं था। आदमियों को भाला फेंकने का एक ही अवसर मिलता। अगर जल्दी फेंक दिया तो कंगारू तक पहुंचता ही नहीं और अगर देर तक इंतज़ार किया तो कंगारू को उनकी भनक पड़ जाती और वह भाग जाता। ज्यादातर दिन पुरूष सिर्फ़ कोई ख़रगोश या छिपकली ही हाथ में लेकर लौटते।

करुणा : नगातजत्जारा को अपने कुत्तों से बहुत प्यार था। वे उन्हें गोद में भी उठाते थे। यह औरत अपने कुत्ते की आंखों को बंद कर रही है ताकि वह उसे कुछ खाते हुये न देखे।

दोपहर होने तक सभी आदमी और औरतें वापस लौट आते। शाम होने तक आराम किया जाता या औज़ारों को ठीक किया जाता या सिर्फ गपशप की जाती। फिर शाम को खाना पका कर खाया जाता। उस दिन जो भी मिलता था सब लोग इकट्ठा खाते थे और सारा खाना बराबरी से बांटा जाता।

इस तरह के समूहों में काफ़ी समानता रहती है। कोई विशेष रूप से मुखिया या सरदार भी नियुक्त नहीं किया जाता। सभी लोग आपस में सलाह और मशवरा करते हैं और इस में स्त्री पुरूष बराबर रहते हैं। अपने व्यक्तित्व के कारण किसी व्यक्ति की बातों पर बाकी लोग थोड़ा ज़्यादा ध्यान दे सकते हैं। मगर यह कोई स्थायी पद नहीं होता और न ही यह ज़रूरी है कि सिर्फ़ एक ही व्यक्ति हो जो थोड़ा ज्यादा समझदार या जानकार माना जाये। मगर ऐसा नहीं है कि यह लोग एक सोचे हुये और नियोजित तरीके से इस तरह की समानता में रहना चाहते हैं। उनकी परिस्थितियां ही ऐसी हैं कि उनक समाज ऐसा है। जहां उन की परिस्थितियां समानता के विपरीत हैं, जैसे स्त्री पुरुष में भेद–भाव, उन्हें असमान रिश्तों में कोई दिक्कत नहीं दिखती।

समानता और साधन

नगात्जतजारा मे कम असमानताओं के होने के पीछे एक कारण तो यह है कि उन के पास ज़्यादा साधन नहीं थे। जो भी थे – भाले, लकड़ी के बरतन – वह सभी के पास थे, और जो सिर्फ़ कुछ के पास थे – समझदारी, ताकत – उनसे लोगों के बीच ज़्यादा फ़र्क नहीं आता। मगर आजकल तो हम लोग कई ऐसी चीज़ों को असमानता का आधार बना लेते हैं कि जिन में वास्तव में कोई ज़्यादा फ़र्क नहीं। तो सिर्फ़ कम साधन होना समानता के लिये पर्याप्त नहीं है। असमानता मूल्यों और मान्यताओं पर भी आधारित रहती है।

इसे हम समझ सकते हैं खेती आधारित समाजों को देख कर। करीब 10,000 साल पहले मनुष्य ने पशुओं और पौधों का पालन शुरू कर दिया था। इस से पोषण की अनिश्चितता और मात्रा दोनों में बहुत सुधार हुआ। लोग धीरे धीरे एक जगह रहने लगे और साधनों का महत्व और उन के स्वामित्व का भी महत्व बढ़ने लगा। यह भी होना शुरू हुआ कि कोई अपनी औलाद को बंजर भूमि छोड़ कर जा रहा था और कोई उपजाउ। स्थायी असमानताएं बढ़ने लगी और उन्होंने कई रूप लिये – भूमि, औज़ार, पशु, इत्यादि। खेती आधारित समाज में असमानता ज़्यादा संभव है और जैसे–जैसे समाज की पेचीदगी और पैमाना बढ़ा, असमानताएं भी बढ़ी।

मध्य और दक्षिणी अफ्रीका में 6 करोड़ से अधिक लोग रहते हैं जो बन्टु नामक भाषा बोलते हैं। वे लोग खेती करते हैं और लोहे के औज़ार और हथियार भी बनाते हैं। इन में स्त्री–पुरूष वर्गीकरण बहुत स्पष्ट है। महिलायें खेती संभालती हैं और पुरूष शिकार करते हैं। बन्टु अलग अलग समूहों में रहते हैं और हर समूह अपने आप को एक अलग पूर्वज का वंशज मानता है। एक समूह के भीतर सभी समान माने जाते हैं मगर अन्य समूहों को असमान माना जाता है।

नगात्जतजारा के विपरीत, हर बन्टु समूह मे से एक व्यक्ति उस समूह का सरदार होता है। यह पद पिता से पुत्र को मिलता है। इस तरह के सरदार के कई विशेष कार्य होते हैं जैसे सभी को इकट्ठा कर सामूहिक काम करवाना, आपसी लड़ाई–झगड़े सुलझाना, इत्यादि। अक्सर समूह के बाकी लोग उसे कर भी देते हैं जिसे वह अपने राजा तक पहुंचाता है। मगर फिर भी वह अपने बाकी के समाज से बहुत अलग थलग नहीं होता। क्योंकि पूरा समूह स्वयं को उसी

के वंश का मानता है इसीलिये वे सब उस सरदार को अपने से ख़ास ऊपर नहीं मानतें। सरदार अपनी बात अपने आसपास भाईयों और अन्य रिश्तेदारों को जमा करके मनवाता है। मगर उसके रिश्तेदार और बाकी का समूह भी उस पर हंस सकते है, उस की निंदा कर सकते है और उससे बहस कर सकते है। असरदार होने के लिये इस तरह के समूह के प्रधान के व्यक्तित्व को ऐसा होना अनिवार्य है कि वह लोगों को अपने साथ ले कर चल सके। एक विरासत में मिली पदवी में ऐसा हर पीढ़ी में सम्भव नहीं होता।

एक बन्टु सरदार

अगर एक ऐसा पुरुष सरदार बनता है जो लोकप्रिय नहीं है तो लोग उस की बातें कम सुनते हैं, मगर फिर भी सरदार तो वही रहता है। इसके लिये वहां की मान्यताएं जिम्मेदार हैं। यह माना जाता है कि वह सरदार ही सबसे नज़दीकी रिश्तेदार है उस पूर्वज का जिसने इस समूह की स्थापना की थी। अपने पूर्वजों से मदद और आशीर्वाद की प्रार्थना करने का अधिकार उसका और सिर्फ़ उसक माना जाता था। कई समूहों में इस तरह की प्रार्थनाओं के लिये विशेष पुरोहित होते थे और उन के साथ भी सरदार का एक ख़ास और विशेष रिश्ता होता था।

समानता और असमानता के लिये सिर्फ़ साधन – चाहे ठोस हो या मानसिक – ही काफ़ी नहीं है, उनमें मान्यताओं और विचारों का भी हाथ है।

समानता – एक सामाजिक अवधारणा

परिस्थितियां जैसी भी हों, विचारों का असर बहुत गहरा होता है। बन्टु जैसे समाजों में, जहां समूह के सभी सदस्य स्वयं को एक ही पूर्वज से निकले हुये मानते हैं, समानता का विचार इस कथा–कथित खून के रिश्ते पर टिका रहता है। सभी हम–उमर पुरुष अपने आप को भाई और बराबर मानते है। बन्टु सरदार इसीलिये कभी भी दूसरों से बहुत ज़्यादा अलग या ऊंचा नहीं दिखता। उस के गांव में रहने वाले बाकी के लोग अपने भाई को अपने से ज़्यादा अलग मानने को तैयार कभी नहीं होते। मगर यह भाईचारा सिर्फ़ कुंबे के भीतर तक ही है। अपने समूह के बाहर का कोई भी व्यक्ति अपने बराबर नहीं माना जा सकता। बहुत से शिकार और बटोर करने वाले समाजों में तो इंसान की अवधारणा सिर्फ़ स्वयं तक ही सीमित रहती थी। बाकी के लोग उन में से माने जाते हैं जो 'इन्सान नहीं है'।

समानता का विचार सिर्फ़ अपने समूह तक ही सीमित रखने का चलन कई तरह के लोगों में दिखता है। जातिबद्ध समाज में अलग अलग जातियों को ऊंचा और नीचा मानना सामान्य है। मगर अपनी जाति के भीतर सभी हम–उमर पुरुषों को समान माना जाता है। यही एक बहुत बड़ा कारण है कि लोग अन्य जातियों द्वारा स्वयं को ऊंचा या नीचा माने जाने को तो सह लेते हैं मगर अपने समूह के भीतर अगर कोई दूसरों पर हावी होने की कोशिश करता है तो यह बहुत बुरा लगता है। जिसे हम आपसी प्रेम और भाईचारा कहते हैं वही इसी समूह–भीतर की भावना पर आधारित है। दूसरी तरफ़, समूह–बाहर की भावनाओं से बहुत सारी जातिवाद की मान्यताएं जुड़ती हैं। साथ खाने से अपवित्र हो जाने की धारना, अन्य जातियों का मज़ाक उड़ाना, खून में बहादुरी, इत्यादि के गूण मानना, यह सब बाहर के समूहों की असमानता को व्यक्त भी करती हैं और मज़बूत भी।

मगर मानव इतिहास ऐसे उदाहरणों से भी भरा हुआ है जहां लोगों ने अपने समाज और समूह की दीवारों को फांद कर एक व्यापक समानता की तरफ़ हाथ उठाने की कोशिश की हैं। इनमें से अधिकांश कोशिशें विचारों को बदलने पर केंद्रित रही हैं, परिस्थितियों को नहीं। भक्ति और सूफ़ी संतों ने लोगों के विचारों और मूल्यों मे समानता की जड़ें मज़बूत कीं। वे समूहों के ऊपरी फ़र्कों के नीचे झांककर कबीर की तरह कहते

जात न पूछो साधु की पूछ लीजिये ज्ञान
मोल करो तलवार की पड़ी रहन दो मयान

कबीर एक ऐसी ही जगह और समय में जी रहे थे, सोलहवी सदी का बनारस, जब जातीवाद बहुत बढ़ा हुआ था। उनकी बातों से बहुत सारे लोगों ने समानता के मूल्य को एक नई संवेदनशीलता से देखना शुरू किया। न जाने कितने लाखों लोगों ने उन के नज़रिये को अपने दिल में बिठाने की कोशिश की। लेकिन अपने रोज़–मर्रा के व्यवहार में ढालने की कोशिश ज़्यादा कामयाब नहीं हुई होगी। क्योंकि कबीर के भजन सुनकर जब लोग घर जाते थे तो फिर वही ज़मीनदार थे, वही व्यापारी थे, वही नौकर थे, वही जातियां थीं और वही असमानताओं के रिश्ते थे। जब कोई ब्राहमण यह चाहता होगा कि वह भी अन्य जाती के किसी व्यक्ति को अपने घर बुलाकर उस के साथ खाना खाये और दो समझदारी की बातें करे, तो उसका समाज उसके ख़िलाफ़ खड़ा हो जाता होगा। विचार हमारे दिलों को तो बदल देते हैं मगर परिस्थितियों को बदलने के लिये और भी कुछ चाहिये।

दूसरी तरफ़, परिस्थितियां जैसी भी हों, अगर हमारे पास समानता को समझने और उसे क्रियान्वित करने के लिये अवधारणाएं न हों तब भी कुछ ज़्यादा नहीं हो सकता। आज हम जिस तरीके से समानता के बारे में बात कर पाते हैं उस के पीछे बदली हुई परिस्थितियां भी हैं और बदली हुई समझ भी। यह समझ कई दिशाओं से आयी है – भक्ति–सूफ़ीवाद से, वैज्ञानिक तर्क से, कारीगरों के समूहों से और कई अन्य जगहों से जहां इंसान वर्गीकरण और समूहीकरण की जगह एक व्यापक एकता की ख्वाहिश दिल में जगाये रहा है।

औद्योगीकरण और समानता

समानता को परिस्थितियों का सहयोग कई तरीकों से मिल सकता है। आधुनिक काल

में परिस्थितियों के बदलने का शायद सबसे बड़ा कारण औद्यागिकरण रहा है। इस को समझने के लिये हम उस देश का उदाहरण ले सकते हैं जहां औद्योगिकरण का उदय हुआ था – इंगलैंड।

मध्य–कालीन इंगलैंड में कई सौ सालों से एक मुट्ठी भर लोगों का शासन चला आ रहा था। इन्हीं में से अदल–बदल कर बनते थे वहां के राजा और राज घराने के सदस्य, उन के दरबारी और उन से जुड़े लोग। 16वीं शताब्दी के इंगलैंड में इन लोगों की सत्ता और समाज में वर्चस्च के पीछे थी उन की ज़मीनी जायदाद। इनके पास हज़ारों एकड़ खेती रहती और उसकी कमाई से वे शान से रहते। राजा यह ज़मीनें अपने भरोसमंद लोगों को देते थे, और वे अपने समर्थकों को। अंत में ज़मीन स्थानीय लोगों में खेती के लिये बांटी जाती और वे अपने मालिक की मर्ज़ी के मुताबिक बाध्य थे उन्हें अपने उत्पाद का हिस्सा देने के लिये। खेती करने वालों को अपने मालिकों के लिये और भी कई तरह के काम करने पड़ते थे।

इस समाज में कई तरह की असमानताएं थीं और उन से जुड़ी कई मान्यताएं। राजा और राज घराने के लोगों के खून को कुछ अलग माना जाता था और वे औरों से अच्छे कहे जाते थे। उन की शादियां आपस में ही होती थी और किसी सामान्य व्यक्ति से शादी करने पर माना जाता था कि इससे उन की खून की पवित्रता पर असर पड़ता है। समाज कई स्तरों में बटा था और ऊंच नीच के कई बारीक पैमाने थे जिन पर बड़ी सख़्ती से अमल किया जाता था। रईसों की ज़िंदगी का ताना–बाना तमीज़ और औपचारिकता से बुना हुआ था। इस पर बहुत ध्यान दिया जाता था कि किसे सलाम किया जाता है, किस के द्वारा, और किस अंदाज़ से। अदाओं पर सब कुछ टिका था और इज़्ज़त के लिये लोग जान लड़ा देते थे।

मध्य–कालीन इंगलैन्ड का गांव

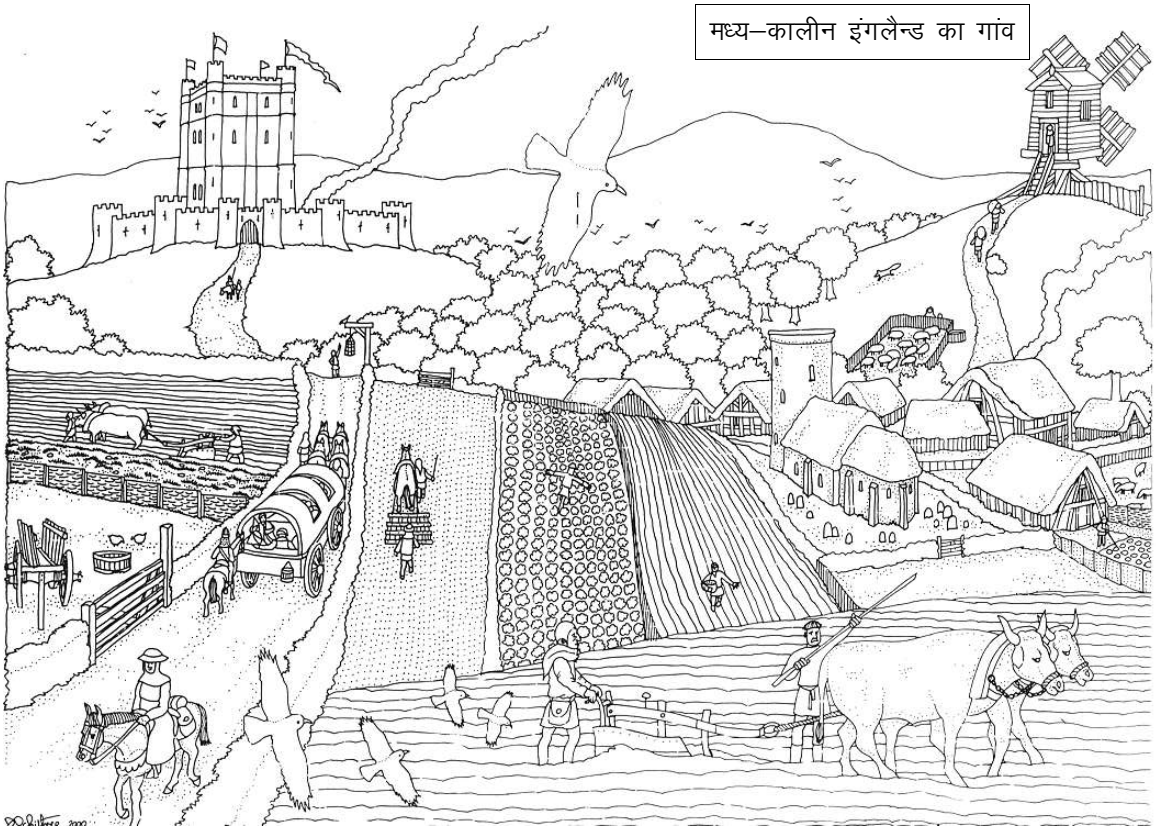

फ़िल्मी शब्दावली : विलेन और कमीना – यह कहां से आये?

फ़िल्मों में सब से ज़्यादा घृणात्मक किरदार होता है विलेन या खलनायक का। मगर यह शब्द 13वीं शताब्दी में इस्तेमाल किया जाता था इंगलैंड के स्वामियों के खेतों और महलों में काम करने वाले लोगों के लिये। यह एक असमानता पर आधारित समाज में नीच और छोटे इंसान को नामांकित करता था। अमीरों के लिये रचे नाटकों में भी इसी तरह के किरदारों के लिये यह शब्द लगाया जाता था। कई नाटकों में तो विलेन का नाक लाल रहता था और उसके द्वारा बड़ों का मुकाबला करने की कोशिशों पर हंसा जाता था। भारत में कमीन शब्द था गांव के कारीगरों और उन सब लोगों के लिये जो कि जजमानों से बंधे थे। गांव में यह एक निम्न स्तर को बयान करता था और उंची ज़ात वालों द्वारा गाली की तरह भी इस्तेमाल किया जाता। अगली बार धर्मेन्द्र को कुत्ता–कमीना कहते सुनें तो उन शब्दों को पर्याय की तरह इस्तेमाल होने के पीछे का इतिहास भी याद कीजिये।

नौकरों और विलेनों की तरह, व्यापारियों और कारीगरों का भी इस तरह के समाज में बहुत कम सम्मान था। धीरे धीरे एक बदलाव आया जिसके पीछे बहुत बड़ा कारण था व्यापार का बढ़ना। जिन व्यापारियों को पहले नौकरों से ज़रा सा ही अच्छा माना जाता था उनके हाथ मज़बूत हुये जा रहे थे और विशेष रूप से भारत और अन्य देशों के साथ व्यापार बढ़ने के बाद तो इस वर्ग के लोगों की ताकत काफ़ी बढी। विशेष रूप से 18वीं शताब्दी के मध्य के बाद जैसे जैसे उद्योगों का विकास हुआ सारा पासा पलट गया। 19वीं शताब्दी में सत्ता, दोनों सरकारी और सामाजिक, अब व्यापारियों और उद्योगपतियों के हाथ चली गयी। खेती करने वाले मज़दूरों और किसानों का पलायन शहरों की तरफ़ हुआ और वहां पुरानी ऊंच नीच की मान्यताएं बाज़ार के धक्कों से धुल गई। व्यापारियों और उद्योगपतियों ने विशेष रूप से परंपरा और उससे जुड़ी असमानताओं पर सवाल उठाने शुरू किये। नये राजनैतिक समूह बने और संसदीय जनतंत्र अप्रत्याशित रूप से बढ़ा।

अनुकूल परिस्थितियों के मिलने से समानता की अवधारणाओं का विकास हुआ और उन को लोगों के वास्तविक जीवन में ढालने में भी काफ़ी प्रगति हुई। पुरानी असमानताओं पर वार हुआ। नई असमानताएं भी निकली मगर समानता के मूल्य को समाज से ज़बरदस्त सहयोग मिला था।

तर्क और समानता

आधुनिक विज्ञान के विकास से समानता की परिस्थितियों और विचार, दोनों को मदद मिली। विज्ञान का एक स्तम्भ था प्रमाण के आधार पर बातों को स्वीकार या अस्वीकार करना। एक साथ फेंके जाने पर भारी गेंद पहले नीचे पहुंचेगी या उसी आकार की हल्की गेंद या दोनों एक साथ पहुंचेगी? इस का जवाब परीक्षण और प्रयोग द्वारा ढूंढे जाने पर ज़ोर दिया जाने लगा, ना कि सिर्फ़ ख़याली अटकलों से। इस का एक नतीजा यह हुआ कि उन लोगो की स्थिति कमज़ोर हुई जो यह कहते थे कि सिर्फ़ वे ही एक ख़ास तरह का ज्ञान पा सकते थे, कोई अन्य नहीं। प्रमाण तो सब के सामने होता था और वह ऐसा ज्ञान देता जो सभी लोग ग्रहण कर सकते। विज्ञान में बहुत ज़रूरी है कि कोई प्रयोग अगर एक समूह एक जगह करता है तो उसका नतीजा वही होना चाहिये जो वही प्रयोग को दूसरे समूह द्वारा दूसरी जगह पर करने से मिलता है। तभी वह एक मूल सत्य माना जा सकता है। अगर कहीं भारी गेंद पहले गिर रही है और कहीं हल्की और कहीं दोनो एक साथ नीचे पहुंच रही हैं तो हम इससे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकते। जब हर जगह और

हर परीक्षक को एक ही नतीजा मिलता है तभी किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। यह वैज्ञानिक सिद्धान्त समानता पर आधारित है – किसी के पास कोई विशेष दैविक समझ नहीं है।

इसी सिद्धान्त का एक और पहलू भी था – सत्य की कोई सीमा नहीं थी। अगर गुरूत्वाकर्षण का दो वस्तुओं के वज़न और आपसी दूरी से एक ख़ास तरह का रिश्ता था तो वही रिश्ता ब्रहमाण्ड के हर कोने में पाया जाता था। विज्ञान का एक मुख्य उद्देश्य था ऐसे सत्य खोजना जो परिस्थिति के साथ साथ बदल ना जायें। एक असीम सत्य की खोज जिसका प्रयोग हम हर जगह कर सकें। न्यूटन के तीन नियमों ने अपने समय के समाज को हिला कर रख दिया था। वे ऐसे सत्य थे जो कि हर जगह और हर परिस्थिति में लागू होते थे। अगर काई नियम एक जगह लागू होता है तो वह हर जगह लागू हाने पर भी बाध्य है। वह तर्क या सत्य असीम और सर्वव्यापी हो ही नहीं सकता जो कहीं पर लागू होता है और कहीं पर नहीं।

18वीं और 19वीं शताब्दी के अंग्रेज़ी समाज में इस तरह के असीम अवधारणाओं से पुरानी मान्यताओं को बहुत धक्का लगा। मध्य–कालीन सत्ता इस के ठीक उलट विचारों पर आधारित थी। राजा और प्रजा के बीच कई श्रेणियां थीं और हर एक के विशेष अधिकार और मान–मर्यादाएं थीं।

समानता के सिद्धान्त को इस तरह के असीम और सर्वव्यापी तर्क करने की परंपरा से बहुत सहारा मिला। पहले अधिकांश समाजों में यह माना जाता था कि मैं अपने समूह में सब के समान हूं मगर अन्य समूह मेरे और मेरे परिजनों के समान हो ही नहीं सकते। मगर अब तर्क का अभिप्राय तो यह हो रहा था कि अगर अन्य समूह भी इंसान हैं तो फिर सभी समान हैं। यह एक ऐसी बात थी कि जिसमें बहुत सारी मान्यताओं और समाजिक परंपराओं को क्षति पहुंचाने की क्षमता थी। इस में काई हैरानी की बात नहीं कि उस दौर में विज्ञान के सबसे बड़े समर्थक उभरते हुये मध्यम–वर्ग के लोग और व्यापारी और उद्योगपति थे।

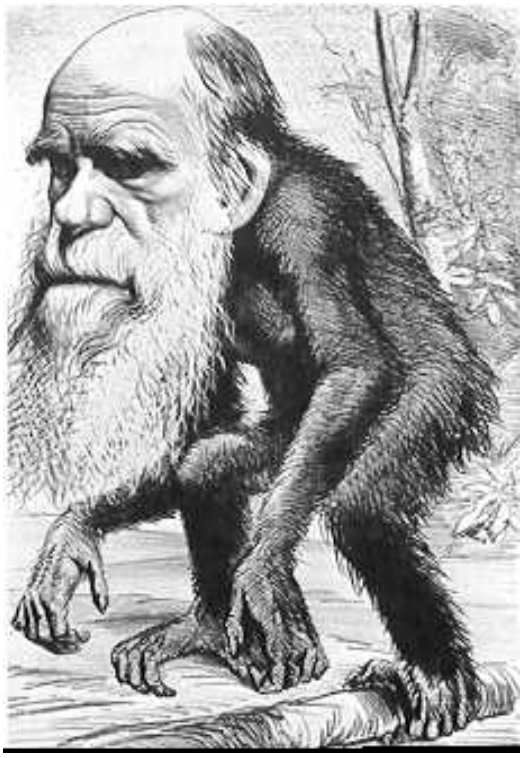

चार्लस डार्विन ने मानवता की स्वयं के बारे में समझ बदल दी – हम सब एक ही स्रोत से जनमे हैं।

समानता की असीम समझ को बढ़त ज़रूर मिली मगर यह ऐसी बात थी कि बहुत सारे वैज्ञानिक भी इसे पूरी तरह से मानने से कतराते थे। कई वैज्ञानिकों ने उन समाजों को अपने बराबर की श्रेणी में लाने से इंकार कर दिया जिन पर उनके अपने समाज की हुकूमत चलती थी। अफ्रीकी और एशियाई लोगों को अलग नसल का बताया गया और यह जायज़ ठहराया गया कि गोरे लोगों के लिये एक तरह का कानून हो और अन्य के

लिये दूसरी तरह का। इसी पर नसलवाद का आधार टिका था। विज्ञान को अपने खुद के साथ एक लंबी लड़ाई लड़नी पड़ी है जिसके बाद ही मूल विज्ञानिक सिद्धान्तों का हाथ अब थोड़ा हावी लगता है।

18वीं और 19वीं शताब्दी में जिन नयी राजनैतिक व्यवस्थाओं का गठन हुआ – विशेष रूप से अमेरिका, इन्गलैन्ड और फ्रांस में – सभी में समानता को एक केन्द्रीय स्थान दिया गया। हलांकि इन में से किसी भी देश में समानता को पूरी तरह, एक असीम अवधारणा के रूप में स्वीकार नहीं किया गया – अमेरिका में दास प्रथा 1865 में औपचारिक रूप से ख़तम की गई मगर अश्वेतों की आज तक शिकायत है कि उनसे समान व्यवहार नहीं किया जाता। फिर भी, अगर इतिहास को एक व्यापक रूप से देखा जाये, इस में कोई सन्देह नहीं है कि आज समानता के सिद्धान्त को पहले से बहुत अधिक समर्थन मिल रहा है। स्वतंत्र भारत के लिये जब संविधान तैयार करने का समय आया तब इसी तरह की विज्ञान से प्रेरित असीम समानता की समझ को उसका केन्द्र बिन्दु बनाने की कोशिश की गई।

समानता की आधुनिक समझ

आधुनिक युग में जिस तरह से राजनैतिक दर्शन में समानता को देखा जाता है, उस नज़रिये की दो विशेषताएं हैं। पहली, कि समानता असीम है। सभी इंसान समान हैं और किसी एक समूह को विशेष सुविधायें या अधिकार देना सही नहीं। दूसरी, कि समानता एक व्यक्तिगत समस्या नहीं है कि जिसे व्यक्ति स्वयं बनाये या बचा कर रखे। यह पूरे समाज की ज़िम्मेदारी है कि वह अपने हर सदस्य को समानता का अधिकार दे और उस अधिकार की रक्षा करे। आधुनिक समाज इस मामले में पुराने ज़माने से भिन्न है। पहले समानता के लिये समाज प्रतिबद्ध नहीं था। मगर अब समाज और उस के सबसे बड़े औज़ार – सरकार – की यह ज़िम्मेदारी है। यह समाज की ज़िम्मेदारी है और हमारे द्वारा बनायी गयी सरकार की, कि यह न हो कि देश की एक तिहाई आबादी को सही पोषण न मिले।

यह माना गया है कि सभी लोग समान रूप से सम्मान के अधिकारी हैं और उन से समान रूप से व्यवहार किया जाना चाहिये। मगर हमारे आसपास जब हम देखते हैं तो यह बहुत कठिन लगता है। कोई समझदार दिखता है और काई थोड़ासा नासमझ, कोई गणित में तेज़ तो कोई कविता रचने में बहुत अच्छा। यह सब समान कैसे हो सकते हैं? इस तरह का उदाहरण देते हुये कई लोग कहते हैं कि समानता तो सिर्फ़ बातों के लिये ही अच्छी लगती है। ना तो कभी समानता रही है और ना ही वह कभी हो सकती है। अतः उस के बारे में बात करना बेमानी है।

इस तरह की दलील एक बहुत आम भ्रम पर आधारति है – कि समानता का मतलब है के सब एक जैसे हैं। जब आधुनिक युग में हम समानता की बात करते हैं तो यह हमारा मतलब नहीं है। लोग तो कभी एक जैसे होते ही नहीं, उन में फ़र्क तो रहते ही हैं और रहने भी चाहिये। अगर दुनिया में सब लोग एक जैसे हो जाये तो वह एक बहुत दुखद दिन होगा। हमें शायर भी चाहिये और इंजिनियर भी, हंसमुख लोग भी चाहिये और संजीदा भी। लेकिन फिर समानता का मतलब क्या है?

समानता का मतलब है कि लोगों में जो

फ़र्क है वह सही माने में उनके अंदरूनी गुणों से ही हो या उन के अपने चयन से हो, ऐतिहासिक और समाजिक कारणों से नहीं। अगर कुछ लोग इस लिये इंजिनियर बनते हैं क्योंकि उन के पास साधन थे और बाकी रह जाते हैं क्योंकि उनके मां–बाप के पास ट्यूशन लायक पैसे नहीं थे या उन्हें अच्छी स्कूली शिक्षा नहीं मिली तो यह उनकी समानता पर प्रहार है। तर्क और प्रमाण यही कहते हैं कि इंसान का जन्म तो समानता में होता है मगर इंसानों के आपस के अधिकांश फ़र्क समाज और इतिहास लाते हैं।

इसी लिये समानता को बढ़ावा देने के लिये दो मुख्य पहलुओं पर ज़ोर दिया जाता है – समान अवसर और समान परिस्थितियों के बनाये जाने पर। जब हम एक नये भारत और एक नये विश्व की कल्पना करते हैं तो उन की मुख्य विशेषताओं में है एक ऐसे समाज का निमार्ण जहां सभी को एक जैसी उच्चतम परिस्थिति और अवसर प्राप्त होना। अवसर जैसे एक ग़रीब आदिवासी गांव की लड़की को भी यह मौका मिलना कि वे परीक्षाओं द्वारा उपर उठ सकें। और परिस्थिति जैसे कि उस लड़की को भी पढ़ाई और तैयारी के लिये बहुत अच्छे साधन, स्कूल और प्रौत्साहन मिले।

समानता की इस तरह की असीम और सक्रिय समझ ने पिछले 200 सालों में विश्व का चेहरा ही बदल दिया है। एक तरफ़ तो हर देश की सरकार को अपने–आप को उचित और सही जतलाने के लिये कहीं न कहीं यह कहना पड़ा है कि वह किसी एक समूह के भले के लिये नहीं बल्कि सभी के

समान भले के लिये काम कर रही है। चाहे पाकिस्तान में मुशर्रफ़ हो या इराक़ में अमेरिका, दोनों को अपने नंगेपन को ढकने के लिये यह बोलते रहना पड़ता है कि वे जन भावनाओं के अनुकून काम कर रहे है। इस तरह के सच्चे–झूटे बयान अपने आप में समानता की अवधारणा के ऐतिहासिक विजय के प्रमाण हैं। हां, वे इस बात का भी प्रमाण हैं कि जो सरकारें समानता और समानता पर आधारित जनतंत्र की दुहाई देती हुई चलती हैं, ज़रूरी नहीं कि वे वास्तव में समान रिश्तों पर टिकी हुई हों। सत्य और समानता की खोज दोनों ही बहुत कठिन रही हैं मगर दोनो मानवता के सबसे उच्च मूल्यों में शामिल हैं।

अमन मदान
जून 2005